

## जैन धर्म की परंपरा

### डॉ. नारायण लाल कछारा

जैनधर्म का प्राचीन नाम श्रमण संस्कृति और आर्हत धर्म था। महावीर काल में इसे निर्ग्रन्थ धर्म भी कहा जाता था। सर्वप्रथम “जैन धर्म” शब्द का प्रयोग जिनमद्रमणि श्रमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में किया। इसे जिन धर्म की कहा गया।

#### काल चक्र

जैन धर्म के अनुसार सृष्टि अनादि काल से गतिशील है। इसकी न ही आदि है और न ही अंत। संसार के अपकर्ष व उत्कर्षमय काल को जैन धर्म में क्रमशः अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कहा गया है। अवसर्पिणी काल के छह विभाग हैं उन्हें आरा कहा गया है। सर्प की मुँह से पूँछ तक क्रमशः चौड़ापन कम होता जाता है इसी तरह इन विभागों का काल क्रमशः संकुचित होता चला जाता है। छह विभाग इस प्रकार हैं—

1. सुषमा सुषमा
2. सुषमा
3. सुषम—दुःषमा
4. दुःषम—सुषमा
5. दुषमा
6. दुषम—दुषमा

उत्सर्पिणी काल में ये ही छह विभाग उल्टे क्रम से होते हैं। सर्प की पूँछ से मुँह तक क्रमशः मोटापन होता है उसी तरह इन विभागों का काल क्रमशः वृद्धिगत होता चला जाता है। अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी इन दोनों को कालचक्र कहते हैं। कालचक्र की अवधि बीस कोटि—कोटि सागर की होती है।

**सुषम—सुषमा काल।** चार कोटि—कोटि सागर। उस समय भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, रस, गंध और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे। कर्म भूमि थी किन्तु अभी कर्मयुग का प्रवर्तन नहीं हुआ था। पदार्थ अति स्निग्ध थे। इस युग में मनुष्य तीन दिन के अन्तर से अरहर के दाल जितनी—सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते। इनका जीवनकाल तीन पल्य था। अकाल—मृत्यु कभी नहीं होती थी। वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी। उनका शरीर तीन गाऊ ऊँचा था।

**सुषमा काल।** तीन कोटि—कोटि सागर। इसमें भोजन दो दिन के अन्तर से होने लगा। उसकी मात्रा बेर के फल जितनी हो गई। जीवनकाल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊँचाई दो गाऊ की रह गई। इनकी कमी का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता की कमी।

**सुषमा दुषमा काल।** दो कोटि—कोटि सागर। एक दिन के अंतर से भोजन होने लगा। उसकी मात्रा आंवला के समान हो गयी। जीवन काल एक पल्य का हो गया। शरीर की ऊँचाई एक गाऊ की हो गई। इसके अंतिम चरण में पदार्थों की स्निग्धता में बहुत कमी हुई। सहज नियमन टूटने लगे। तब कृत्रिम व्यवस्था आयी और इसी समय कुलकर व्यवस्था को जन्म मिला।

यह कर्म—युग के शैशवकाल की कहानी है। समाज—संगठन अभी नहीं हुआ था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। एक जोड़ा ही सब कुछ होता था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। जनसंख्या कम थी। माता—पिता की मौत से छह माह पहले एक युगल जन्म लेता, वही दम्पति होता। जीवन की आवश्यकता बहुत कम थी। खेती, कपड़ा, मकान नहीं थे। भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्प—वृक्ष थे। गाँव नहीं थे।, स्वामी—सेवक नहीं थे, समाज नहीं था। संग्रह, चोरी, असत्य नहीं था। यह क्रम तीसरे आरे के अन्त काल तक चला। तब तक कल्प—वृक्षों की शक्ति भी क्षीण हो गई।

#### कुलकर व्यवस्था

तीसरे आरे के अन्त में यौगलिक व्यवस्था टूटने लगी। जनसंख्या में वृद्धि हुई, साधन कम पड़ने लगे। इस स्थिति में आपसी संघर्ष और लूट—खसोट होने लगी। अपराधी मनोवृत्ति का बीज अंकुरित होने

लगा। अपराध और अव्यवस्था के फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। कुल के मुखिया को 'कुलकर' कहा गया। उसे दंड देने का अधिकार होता। वह कुल की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियंत्रण रखता।

कुलकर—सात हुए हैं। विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मयदेव व नाभि। कुलकर — व्यवस्था में तीन दण्ड नीतियाँ प्रचलित हुईं। पहले कुलकर विमलवाहन के समय हाकार नीति का प्रयोग हुआ (हा! तूने यह क्या किया!) यह नीति दूसरे कुलकर के समय भी थी। तीसरे और चौथे कुलकर के समय छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और बड़े अपराध के नीचे 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पाँचवे, छठे और सातवें कुलकर के समय में 'धिक्कार' नीति चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार', मध्यम के लिए 'माकार' और बड़े अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया गया।

नाभि के समय कल्पवृक्षों से प्राप्त भोजन अपर्याप्त हो गया। युगल आपस में झगड़ने लगे और 'धिक्कार' नीति का उल्लंघन होने लगा। घबराकर वे ऋषभकुमार के पास पहुँचे और स्थिति निवेदन की। ऋषभ ने उन्हें राजा की आवश्यकता बताई और कहा वे नाभि के पास जायें और राजा की मांग करें। नाभि ने ऋषभ को राजा घोषित किया।

ऋषभ ने सर्वप्रथम नगर बसाया, विनीता — अयोध्या। फिर गाँवों और नगरों का निर्माण हुआ। लोग वन से हटकर भवनवासी बन गये। पालतु पशुओं का संग्रह होने लगा। ऋषभ ने मंत्रिमंडल बनाया, आरक्षकदल स्थापित किया, सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की, नई दण्ड—नीति बनाई, और राजतंत्र को जन्म दिया। इस युग में अकाल मृत्यु होने लगी। एक बालिका अकेली रह गई। नाभि ने उसे ऋषभ की पत्नी के रूप में स्वीकार किया। यहीं से विवाह—पद्धति का उदय हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के अतिरिक्त भी दूसरी कन्याओं से विवाह करने लगे।

### राजा ऋषभ की नई शिक्षाएं

(1) कृषि कर्म (2) अग्नि का उपयोग (3) भोजन पकाना (4) असि कर्म—सुरक्षा (5) मसि कर्म — (लिखा—पढ़ी से) वस्तु का विनिमय करना। (6) वर्ण व्यवस्था, क्षत्रिय—सुरक्षा कार्य, वैश्य—कृषि तथा मसिकर्म, शुद्र—सेवा और सफाई (7) विवाह व्यवस्था (8) ग्राम व्यवस्था (9) दण्ड व्यवस्था (10) कला प्रशिक्षण—भरत को 72 कलाएं सिखायी। (11) लिपि — ब्राह्मी को अक्षर विद्या, सुन्दरी को गणित विद्या (12) बाहुबली को प्राणी की लक्षण—विद्या।

जीवनकाल — 84 लाख पूर्व : 83 लाख पूर्व में सामाजिक, राजनैतिक मूल्यों की स्थापना।

1 हजार पूर्व—साधना, 99 हजार पूर्व — कैवल्य काल।

प्रथम तीर्थंकर — चार तीर्थ — साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका की स्थापना

— मुनि धर्म के पाँच महाव्रत और गृहस्थ—धर्म के 12 व्रतों का उपदेश

### भरत

- राजा ऋषभ ने सौ पुत्रों को अलग—अलग राज्य सौंपे।
- भरत ने 98 भाईयों को अपने अधीन कर लिया।
- बाहुबलि से युद्ध, बाहुबलि विजयी। बाहुबलि का त्याग और तपस्या। कैवल्य।
- भरत का मुनि धर्म ग्रहण, कैवल्य। भरत के नाम देश का नाम भारत हुआ।

### भगवान् ऋषभ का निर्वाण

अवसर्पिणी के तीसरे आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहने पर छः दिन का अनशन और फिर माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन निर्वाण।

## चौथे आरे का काल

23 तीर्थकर : (2) अजीतनाथ (3) संभवनाथ (4) अभिनन्दन (5) सुमतिनाथ (6) पद्मप्रभ  
(7) सुपार्श्वनाथ (8) चन्द्रप्रभ (9) सुविधिनाथ (10) शीतलनाथ (11) श्रेयांसनाथ (12) वासुपूज्य  
(13) विमलनाथ (14) अनन्तनाथ (15) धर्मनाथ (16) शांतिनाथ (17) कुंथुनाथ (18) अरनाथ  
(19) मल्लिनाथ (20) मुनिसुव्रत (21) नमिनाथ (22) अरिष्टनेमि (नेमिनाथ)—प्रागैतिहासिक काल  
**(23) पार्श्वनाथ – ऐतिहासिक पुरुष**

जन्म ई.पू. 877, परिनिर्वाण ई.पू. 777, आयु—100 वर्ष

178 वर्ष पश्चात् ई.पू. 599 में महावीर का जन्म।

पार्श्वनाथ के समय चातुर्याम धर्म – अहिंसा, सत्य, अस्त्ये अपरिग्रह प्रवर्तित था। इसका प्रारम्भ अजीतनाथ से हुआ। अहिंसा का सामाजिक, व्यावहारिक जीवन में समावेश। धर्म प्रचार के लिए संघ बनाये।

## **(24) महावीर**

जन्म – ई.पू. 599, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, दक्षिण कुण्डग्राम। चौथा आरा पूरा होने में 74 वर्ष, 11 माह, साढ़े सात दिन बाकी।

दीक्षा – तीस वर्ष की अवस्था में।

साधना काल – बारह वर्ष साढ़े छह मास। पूरे साधना काल में केवल एक मुहुर्त नींद, शेष काल में ध्यान और अन्य जागरण।

कैवल्य – वैशाख शुक्ला दशमी, जंभियग्राम के बाहर ऋजुबालिका नदी के किनारे, शालवृक्ष के नीचे, गौदोहिका आसन, ईशानकोण की ओर मुँह, दिन का अंतिम प्रहर।

निर्वाण – ई.पू. 527, कार्तिक कृष्णा अमावस्या, पावापुरी में।

संघ व्यवस्था—श्रमण संघ—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणी, गणधर, गणावच्छेदक

मुनि दिनचर्या – सामयिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान।

श्रावक संघ – अणुव्रतों का पालन करने वाला, श्रद्धा संपन्न।

## **भगवान् महावीर की उत्तरवर्ती परम्परा**

दिगम्बर परंपरा – 1. गणधर गौतम – महावीर के बाद 12 वर्ष (कैवल्य अवस्था)

2. गणधर, सुधर्मा – गौतम के बाद 8 वर्ष (कैवल्य अवस्था)

श्वेताम्बर परंपरा 1. गणधर, सुधर्मा—महावीर के बाद 12 वर्ष (कैवल्य प्राप्ति तक)

2. आर्य जम्बूकुमार (अन्तिम केवली) – सुधर्मा के बाद 44 वर्ष

आचार्य जम्बू के साथ—साथ केवलज्ञान की परंपरा विच्छिन्न हो गई।

श्रुतकेवली (चतुर्दशपूर्वी) की परंपरा :-

श्वेताम्बर—छह आचार्य: प्रभव, शयंभव, यशोभद्र, संभूत विजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र (170 वर्ष)।

दिगम्बर —पाँच आचार्य: विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गौवर्धन और भद्रबाहु (162 वर्ष)

दसपूर्वी परंपरा :-

श्वेताम्बर – दस आचार्य: महागिरी, सुहस्ति, गुणसुन्दर, कालकाचार्य, स्कन्दिलाचार्य, रेवतिमित्र, आर्य धर्म, भद्रगुप्त, श्रीगुप्त, आर्यवज्र (369 वर्ष वि.सं. 114 तक)

दिगम्बर – ग्यारह आचार्य: विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, घृतिषेण, विजय, बुद्धिलिंग, देव, धर्मसेन (183 वर्ष वि.पू. 287 तक)

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनों परम्परा आचार्यों का भेद स्वीकार करती है और भद्रबाहु के समय फिर दोनों एक बन जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभवस्वामी के समय से ही कुछ मतभेद के अंकुर फूटने लगे। भद्रबाहु के समय (वी.नि. 160 के लगभग) पाटलीपुत्र में जो प्रथम वाचना हुई उससे परंपरा मतभेद तीव्र हो गया। इस समय सम्राट चन्द्रगुप्त का शासन था और उस समय मगध में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। इस कारण बहुत से निष्ठावान दृढवर्ती साधु भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत को चले गये और शेष स्थूलभद्र के साथ वहीं रह गये। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भद्रबाहु स्वामी नेपाल की ओर गये। (संभव है कि दक्षिण के बाद नेपाल गये हो)। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अंगों का संकलन किया गया, वह सबको पूर्ण मान्य नहीं हुआ। लगभग 700 वर्ष बाद दूसरी बार दो वाचनाएँ हुई, मथुरा में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में और वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में। इनमें फिर से श्रुत संकलन हुआ। माथुरी वाचना का दिगम्बर परंपरा ने पूर्ण बहिष्कार किया। अंतिम वाचना इसके 150 वर्ष बाद वल्लभी में आचार्य श्रमा श्रमण देवर्द्धिगणि के नेतृत्व में हुई जिसमें आगमों को ताड़पत्र पर लिखित रूप दिया गया।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परा मानती है कि पूर्वी का ज्ञान पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुआ। दिगम्बर मान्यता है कि आचार्य धरसेन अंग-आगम के ज्ञाता थे और उनके पास पूर्वी का आंशिक ज्ञान सुरक्षित था। उन्होंने आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि को वाचना प्रदान की। ऐसा माना जाता है कि आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि ने दूसरे पूर्व अग्रायणीय के कुछ अंश के आधार पर षट्खण्डागम की रचना की और आचार्य गुणधर ने पाँचवे पूर्व ज्ञानप्रवाद के कुछ अंश के आधार पर कषाय-पाहुड़ की रचना की। श्वेताम्बर मान्यता है कि बारहवें आगम दृष्टिवाद में पूर्वी का ज्ञान समाहित है। श्वेताम्बर परम्परा सर्वथा आगम-विच्छेद की परम्परा को स्वीकार नहीं करती। इस परंपरा के अनुसार आगम-वाचनाकार आचार्यों के सत्प्रयत्नों से आगम-संकलन का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और इससे आगमों की सुरक्षा होती रही। दुष्काल के समय आगम-निधि क्षत-विक्षत तो हुई पर उसका पूर्ण लोप नहीं हुआ था।

द्वादशांगी की देन आचार्य सुधर्मा की है। दशवैकालिक के आचार्य शय्यम्भव, छेद सूत्रों के रचयिता आचार्य भद्रबाहु और प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य थे। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति (उमास्वामी), समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टभ्राभूत साहित्य आदि ग्रंथों के रचयिता आचार्य कुंदकुंद इस युग के महान् साहित्यकार थे। षट्खण्डागम, कषायप्राभूत और समयसार आदि ग्रंथों को दिगम्बर परम्परा में आगमवत् उच्च स्थान प्राप्त है।

### परम्परा भेद

वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अविभक्त जैन श्रमण संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में विभक्त हो गया। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वी.नि. 609 (वि.सं. 139) में दिगम्बर मत की स्थापना हुई। दिगम्बर मत के अनुसार वी.नि. 606 (वि.सं. 136) में श्वेताम्बर मत की स्थापना हुई। यापनीय संघ की समन्वयात्मक नीति ने इन दोनों के बीच समझौता करने का प्रयत्न भी किया।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने तो अचेलक धर्म का उपदेश दिया किंतु बीच के 22 तीर्थंकरों ने सचेल और अंचल दोनों धर्मों का उपदेश दिया। दिगम्बर परंपरा ऐसा नहीं मानती।

### दिगम्बर सम्प्रदाय

प्रारम्भ में दिगम्बर को मूल संघ भी कहा जाता था। मूलसंघ 4-5वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में विद्यमान था। इसका विभाजन गण के रूप में हुआ और सात से अधिक गणों का वर्णन मिलता है। दक्षिण प्रांत में आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमार सेन ने काष्ठा संघ की स्थापना की। इस संघ में मयुर पिच्छी की जगह गाय के बैलों की पिच्छी का प्रयोग किया जाता था। काष्ठा संघ की प्रमुख

शाखाएं या गच्छ चार थे – नन्दितट, माथुर, बागड़ और लाट बागड़। माथुर संघ के साधु पिच्छी नहीं रखते थे। वि.सं. 526 में दक्षिण मथुरा में द्रविड़ संघ की उत्पत्ति हुई, इसका संस्थापक आचार्य पूज्यपाद का शिष्य वज्रनन्दि था। इस संघ के आचार्यों ने पद्मावती देवी की पूजा के प्रसार में बड़ा योग दिया। इस संघ के साधु जैन मंदिरों में रहते थे। उनका रूप मठाधियों के जैसा हो गया था। इन्हीं का विकसित रूप भट्टारक पद है।

वी.नि. 1975 से 2042 (वि.सं. 1505 से 1572) के बीच क्रांतिकारी तारण स्वामी हुए। उन्होंने मूर्तिपूजा के विरोध में एक क्रांति की और तारण तरण समाज की स्थापना की। इस समाज के अनुयायी मंदिरों के स्थान पर सरस्वती-भवन बनाने और मूर्तियों के स्थान पर शास्त्रों की प्रतिष्ठा करने लगे थे। उस समय भट्टारक शक्ति बलवान थी। भट्टारक सम्प्रदाय के शिथिलाचार पर धार्मिकों के मन में नाना प्रकार की प्रतिक्रिया हो रही थी। कुछ लोग आचार्य कुंदकुंद और अमृतचन्द्र के ग्रंथों का अध्ययन कर अध्यात्म की ओर झुके और वे अध्यात्मी कहलाने लगे। विक्रम की 17वीं शताब्दी में पंडित बनारसीदास जी का समर्थन पाकर इस अध्यात्मी परंपरा से दिगम्बर तेरापंथी का जन्म हुआ। बाद में इसे पं. टोडरमल और कानजी स्वामी ने आगे बढ़ाया। इस पंथ में (इसे मुमुक्षु संघ भी कहते हैं) दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित हुए। इसे शुद्ध आमनाय भी कहते हैं। इसमें निरपेक्ष तत्व (निश्चय नय) की प्रधानता है। तेरापंथ के अभ्युदय के साथ ही इत्तर पक्ष दिगम्बर बीसपंथी कहलाया और भट्टारक युग का लोप हो गया। तेरापंथी पूजन में संचित पदार्थों और दूध का उपयोग नहीं करते। विद्वानों की मान्यता है कि बीसपंथी सम्प्रदाय का अभ्युदय राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव है जब जैनों ने अपने संरक्षण हेतु हिन्दुओं के अनेक विधि-विधान अपनाये।

औरंगजेब के शासनकाल से 2-3 शताब्दियों तक दिगम्बर साधु नहीं थे। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आचार्य शांतिसागर से फिर मुनि परंपरा प्रारम्भ हुई।

### **श्वेताम्बर सम्प्रदाय**

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु विक्रम की 7-8वीं शताब्दी तक कारण पड़ने पर ही वस्त्र धारण करते थे और वह भी केवल कटिवस्त्र। बाद में वे सफेद वस्त्र पहनने लगे। फिर जिन मूर्तियों में भी लंगोटे का चिह्न बनाया जाने लगा। इसके बाद उन्हें वस्त्र-आभूषणों से सजाने की प्रथा चली। वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी में चैत्यवास की स्थापना हुई। कुछ शिथिलाचारी मुनि उग्र-विहार छोड़कर मंदिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। आचार्य देवर्द्धिगणि के बाद चैत्यवासी सम्प्रदाय को निर्बाध गति से पनपने का अवसर मिला। कठोर चर्या पालन करने वाले सुविहितमार्गी श्रमण चैत्यवासी श्रमणों के बढ़ते हुए वर्चस्व के सामने पराभूत हो गए। श्रमण वर्ग, यति वर्ग एवं भट्टारक वर्ग में सुविधावाद पनपने लगा। उग्र विहार चर्या को छोड़कर वे मठाधीश बन गये। जंत्र, मंत्र, तंत्रों के प्रयोग से वे राज-सम्मान पाकर राजगुरु कहलाने लगे। छत्र चमर आदि को निःसंकोच भाव से धारण कर वे राजशाही टाट से रहने लगे।

### **श्वेताम्बर (मूर्तिपूजक) सम्प्रदाय के मुख्य गच्छ**

1. उपकेश गच्छ—इसका उदय भगवान पार्श्वनाथ में बताया गया है, उनका अनुयायी केशी इस गच्छ का नेता था।
2. खरतरगच्छ – इस गच्छ का प्रथम नेता गुजरात में वर्धमानसूरि को माना जाता है।
3. तपागच्छ – इस गच्छ के संस्थापक श्री जगचन्द्रसूरि थे उन्होंने वि.सं. 1285 में आयड़ में इसकी स्थापना की।
4. पार्श्वचन्द्र गच्छ – यह तपागच्छ की शाखा है। तपागच्छ के आचार्य पार्श्वचन्द्र ने वि.सं. 1515 में इसकी स्थापना की। ये निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और छेद ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते थे।

5. सार्धपौणमीय गच्छ – इस गच्छ की स्थापना चन्द्रप्रभसूरि ने की। ये महानिशीथ सूत्र की गणना शास्त्र ग्रन्थों में नहीं करते थे।
6. अंचल गच्छ – इस गच्छ के संस्थापक उपाध्याय विजयसिंह थे। बाद में ये आर्यरक्षित सूरि के नाम से विख्यात हुए।
7. आगमिक गच्छ – इस गच्छ के संस्थापक शीलगुण और देवभद्र थे। ये क्षेत्रपाल की पूजा करने के विरुद्ध थे।

इन गच्छों में आज खरतर, तपा और आंचलिक गच्छ ही वर्तमान हैं। इनकी साधु-समाचारी में भेद हैं पर यह निर्जीव-सा है।

सोलहवीं शताब्दी में श्वेताम्बर परंपरा में क्रांतिकारी लौकाशाह पैदा हुए। उस समय श्वेताम्बर धर्मगच्छों के संचालन का दायित्व यति वर्ग के हाथ में था। यति चैत्यों में निवास करते थे। उनके सामने साधुत्व का भाव कम और लोकरंजन का भाव प्रमुख था। वे धन-संपदा का निरंकुश भोग और सुविधाओं का उपभोग करने लगे। इन सबके विरोध में लौकाशाह ने क्रांति कर दी। उनकी लेखनी सुन्दर होने के कारण यतियों ने उन्हें आगम लिखने का कार्य सौंपा। उन्होंने आगम-प्रतिपादित सिद्धान्त और साध्वाचार के बीच गंभीर भेद पाया। एक दिन उन्होंने निर्भिकतापूर्वक मूर्ति पूजा के विरोध में क्रांति का उद्घोष कर दिया। कोट्याधीश लक्खमसी भाई ने लौकाशाह के विचारों को गहराई से समझा और वे उनके मत का प्रबल समर्थन करने लगे। वी.नि. 2001 (वि.सं. 1531) में कई व्यक्तियों ने लौकाशाह की श्रद्धा के अनुरूप श्रमण दीक्षा ली और उन्होंने चैत्यों में रहना छोड़ा। यह नया गच्छ लौकागच्छ के नाम से जाना गया। लौकाशाह का वी.नि. 2016 (वि.सं. 1541) में स्वर्गवास हो गया। एक शती पूर्ण होने पूर्व ही सैंकड़ों व्यक्तियों ने लौकागच्छ में निग्रन्थ-दीक्षा ली। तदन्तर परस्पर सौहार्द्र और एक सूत्रता की कमी के कारण संगठन कमजोर हो गया। इस समय ऋषि लवजी, धर्मसिंह जी एवं धर्मदास जी ने लौकाशाह की धर्म क्रांति को सहारा दिया और स्थानकवासी सम्प्रदाय की नींव डाली। आचार्य धर्मदास जी के 99 शिष्य थे जो उनके स्वर्गवास के बाद बाईस भागों में विभक्त हो गया। आज यह सम्प्रदाय स्थानकवासी कहलाता है।

विक्रम की इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में सादड़ी में स्थानकवासी मुनियों का वृहद् श्रमण सम्मेलन हुआ। उसमें आचार्य आत्माराम जी को प्रमुख पद पर चुन कर अधिकांश स्थानकवासी संप्रदायों को एकीकृत किया गया जिसका नाम श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ हुआ। स्थानकवासी परंपरा की दूसरी शाखा 'साधुमार्गी' के नाम से प्रसिद्ध है। वह श्रमण-संघ के साथ नहीं है।

गौडल संप्रदाय, लींबड़ी संप्रदाय और आठकोटि संप्रदाय भी स्थानकवासी परंपरा की शाखाएँ हैं और ये (गुजरात सौराष्ट्र और कच्छ) में हैं।

स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रुधनाथ जी के शिष्य 'संत भीखणजी' (आचार्य भिक्षु) ने वि.सं. 1817 में तेरापंथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और संगठन पर बल दिया। थोड़े ही समय में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ प्रसिद्ध हो गया।

### भारत में जैनधर्म का विस्तार

तीसरी शताब्दी ईस्वी के अंत तक जैन धर्म की जड़ें प्रायः सम्पूर्ण भारत में जम चुकी थी अपने मूल केन्द्र मगध से प्रारम्भ करके वह दक्षिण पूर्व में कलिंग, पश्चिम में मथुरा, मालवा और सौराष्ट्र तथा दक्षिण में दक्षिणापक्ष, कर्नाटक और तमिल प्रदेशों तक शनैः-शनैः विस्तार पा चुका था। स्वयं मगध के ऊपर वह अपना प्रभाव खो चुका था, किन्तु वह पश्चिमी और दक्षिण भागों में पर्याप्त शक्तिशाली भी बन गया था।

गुप्त काल (320-520 ईस्वी) में पूर्वी बंगाल के राजशाही जिले के पहाड़पुर, बिहार के राजगृह, पूर्वी उत्तर प्रदेश के वाराणसी और ककुम (गोरखपुर), पश्चिमी उत्तरप्रदेश के मथुरा, मध्य प्रदेश के उदयगिरी

(विदिशा), राजस्थान के जाबालिपुर और पंजाब में चिनाब के तटवर्ती पवैया जैसे विभिन्न स्थानों में जैन धर्म के सक्रिय अनुयायी थे।

तीसरी शती ईस्वी से लेकर दक्षिणवर्ती प्रदेशों विशेषकर कान्णड भाषी प्रदेशों में जैन धर्म अधिक फला-फूला। मैसूर के गंग राजवंश की स्थापना का श्रेय जैनाचार्य सिंहनन्दि को दिया जाता है। वनवासी के कदम्ब नरेश भी जैन धर्मानुयायी रहे माने जाते हैं। इस राज्य के निर्ग्रन्थ (दिगम्बर), यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट्ट (श्वेताम्बर) नाम के जैन सम्प्रदाय फल-फूल रहे थे। कदम्बों के बाद चालुक्य नरेश भी जैन धर्म के प्रश्रयादाता रहे।

ईसा पूर्व 394 में प्रारम्भ हुए सिंहल नरेश पांडुकामय के राज्यकाल में सिंहलद्वीप (श्रीलंका) में निर्ग्रन्थ (जैन) लोग विद्यमान थे।

ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में दक्षिण भारत में जैन धर्म उन्नत अवस्था में था। चोल, चेर, पाण्ड्य, केरलपुत्र एवं सत्यपुत्र नामक राज्यों में जैन धर्म के अनुयायी अच्छी संख्या में थे। जैन मुनियों का एक संघ द्रविड संघ के नाम से हुआ, जिसका प्रारम्भ दूसरी शती ईस्वी में आचार्य समन्तभद्र के समय में हो चुका था, यद्यपि उसकी पृथक स्थापना पाँचवी या छठी शताब्दी में हुई बतायी जाती है। छठी-सातवीं शती में तमिल प्रदेश में शैव नयनारों और वैष्णव अल्वरों के हाथों जैनधर्म पर भयंकर अत्याचार भी हुए।

आठवीं से दसवीं पर्यन्त दो शताब्दियों में राष्ट्रकूट नरेश जैनधर्म के प्रति अति सहिष्णु थे, कुछ राजाओं ने जैन धर्म को अंगीकार कर लिया था। उस काल में उस क्षेत्र में जैन धर्म का प्रायः कोई प्रबल प्रतिद्वन्द्वी नहीं था तथा सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रायः एक-तिहाई भाग महावीर का अनुयायी था।

दसवीं से तेरहवीं शती राजपूतकाल में राजा जैन धर्म के प्रति सहिष्णु थे और कई राजे और सामन्त जैन धर्मावलम्बी रहे। यहाँ से प्रारम्भ मध्यकाल में ब्राह्मण और हिन्दूधर्म का व्यापक प्रभाव रहा, बौद्धधर्म का प्रायः सर्वथा नामशेष हो गया परन्तु जैन धर्म अपनी स्थिति बनाये रखने में सफल रहा। इस काल में गुजरात जैनधर्म का मुख्य गढ़ था। कुमारपाल जैसे जैन नरेश, विमलशाह, वस्तुपाल और तेजपाल जैसे जैन सेनापति और मंत्री तथा कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र हुए। मालवा और राजस्थान भी जैनधर्म के गढ़ थे। दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के प्रभाव से जैन धर्म का महत्त्व घटता गया।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से इस्लाम के भारत में आगमन से जैनधर्म के प्रभाव और उसके अनुयायियों की संख्या में ह्रास हुआ। उस समय दिगम्बर सम्प्रदाय के मुख्य गढ़ कर्नाटक, महाराष्ट्र, पूर्वी राजस्थान, मध्य भारत और बुन्देलखण्ड थे और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मुख्यगढ़ गुजरात, सौराष्ट्र, पश्चिमी मालवा एवं पश्चिमी राजस्थान थे।

मुसलमान शासकों में सर्वाधिक सहिष्णु मुगल बादशाह रहे। अकबर और उसके पुत्र जहांगीर ने अनेक जैन गुरुओं का सम्मान किया। शाहजहाँ ने कुछ अंशों में इस नीति का उल्लंघन किया और औरंगजेब ने उसे पूरा उलट दिया। परन्तु जैन अनुयायी अपनी शांतिप्रिय नीति के कारण सुरक्षित रह गये।

अठारहवीं शताब्दी में राजपूत राज्य में जयपुर जैनधर्म का प्रमुख गढ़ था परन्तु कतिपय पथ भ्रष्ट एवं धर्मान्ध हिन्दुओं के हाथों जैनों को निर्दय अत्याचार सहने पड़े। जैन विद्वान, साहित्यकार एवं संत पुरुष पं. टोडरमल को मिथ्या आरोप लगाकर हाथों के पैरों तले कुचलवा दिया गया।

मध्य युग में जैनियों की संख्या का निरन्तर ह्रास होता रहा और सुदीर्घ काल तक जो इस महादेश का एक प्रधान धार्मिक समाज रहा था वह अब घटकर जनसंख्या का एक प्रतिशत से भी कम रह गया है।

### महावीर के पश्चात् जैन धर्म की ऐतिहासिक स्थिति

(अ) उत्तर भारत

1. बिहार

- (1) राजा चेटक महावीर के नाना। वैशाली में जैनधर्म का संरक्षण
- (2) राजा श्रेणिक (बिम्बसार) (ई.पू.601–552)। मगध में जैन धर्म का प्रचार।
- (3) अजातशत्रु (ई.पू. 552–518) मगध का राजा उसने वैशाली को जीता। नन्दों और मौर्यों को सहायता दी।
- (4) सम्राट चण्डप्रद्योत
- (5) सम्राट उदायी–मगध
- (6) नन्दवंश (ई.पू. 305) मगध राज्य । राजा नंद।
- (7) मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त और चाणक्य (ई.पू. 320) मगध राज्य। अपने पुत्र को राज्य सौंपकर भद्रबाहु के साथ दक्षिण चले गये और जिन–दीक्षा ली।
- (8) सम्राट बिन्दुसार चन्द्रगुप्त का पुत्र।
- (9) सम्राट अशोक (ई.पू. 277) चन्द्रगुप्त का पौत्र
- (10) सम्राट सम्प्रति (ई.पू. 220) अशोक का पौत्र

## 2. उड़ीसा

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल (ई.पू. 174) – खाखेल ने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया और जैन धर्म का प्रसार हुआ।

## 3. बंगाल

इतिहासकारों की मान्यता है कि बंगाल में मानभूम, सिंहभूम, वीरभूम और बर्दवान जिलों का नामकरण वर्धमान महावीर के नाम पर हुआ है।

## 4. गुजरात

भगवान नेमिनाथ का निर्वाण गिरनार पर्वत पर।

- (1) राष्ट्रकूट वंश – अमोघवर्ष प्रथम
- (2) चावड़ा वंश – राजा वनराज
- (3) चालुक्य वंश राजा मूलराज। सेनापति विमल ने आबू पर्वत पर जैन मंदिर बनवाया। राजा सिद्धराज जयसिंह। राजा कुमारपाल
- (4) बघेला वंश (13वीं शताब्दी) – वस्तुपाल और तेजपाल नामक जैन मंत्रियों ने आबू के प्रसिद्ध जैन मंदिर बनवाए तथा शत्रुंजय और गिरनार पर भी जैन मंदिर बनवाये।

## 5. राजपूताना

अशोक के पहले जैन धर्म प्रचलित। ओसवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल, पल्लीवाल जातियों का उदय स्थान।

## 6. मध्य प्रांत

- (1) कलचूरि वंश और कलभ्रवंश (8वीं–9वीं शताब्दी)

## 7. उत्तरप्रदेश

मथुरा – जैन धर्म का केन्द्र। अन्य राजा जैसे हर्षवर्द्धन, जादो वंश के राजा उदयन, राजा सुहृदध्वज, राजा मोरध्वज, आदि।

## दक्षिण भारत

12 वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष के समय आचार्य भद्रबाहु अपने विशाल जैन संघ के साथ दक्षिण भारत चले गये। उस समय वहाँ जैन धर्म का अच्छा प्रचार था।

तमिल प्रान्त में चोल और पाण्ड्य नरेशों ने जैन धर्म को अच्छा आश्रय दिया। पल्लवी राजाओं ने भी जैनों को प्रश्रय दिया।



कर्नाटक प्रांत दिगम्बर सम्प्रदाय का मुख्य स्थान रहा है। आन्ध्र वंश, कदम्ब वंश, चालुक्य वंश आदि ने जैन धर्म को प्रश्रय दिया।

1. गंगवंश (2री शताब्दी से 12वीं शताब्दी) । राजा मानसिंह द्वितीय के मंत्री चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोला में गोमटेश मूर्ति की स्थापना की।
2. होयसल वंश (मैसूर प्रदेश) । यह वंश 12वीं शताब्दी तक जैन धर्म का समर्थक रहा।
3. राष्ट्रकूट वंश (नासिक) । राजा अमोघवर्ष प्रथम एक प्रतापी राजा हुआ।
4. कदम्ब वंश । छठी शताब्दी तक राज्य किया।
5. चालुक्य वंश (6वीं से 8वीं ई. तथा 10वीं से 12वीं ई.)।
  - (1) पश्चिमी चालुक्य – राजा पुलकेशी (हर्षवर्धन का समकालीन), विक्रमादित्य द्वितीय आदि। तैलप द्वितीय जयसिंह तृतीय, सोमेश्वर प्रथम व द्वितीय आदि।
  - (2) कालाचुड़ी राज्य – इस राज्य में बाद में जैन धर्म का विनाश हुआ।
6. विजयनगर राज्य । राजा हरिहर द्वितीय आदि।  
चौदहवीं शती में दक्षिण भारत में शैवों के प्रभाव से जैन धर्म बहुत क्षीण हो गया।

### विदेशों में जैन धर्म

भगवान ऋषभ ने बलख, अटक, यवन, सुवर्णभूमि, पण्डव आदि देशों में विहार किया। भगवान आरिष्टनेमि दक्षिणापथ के मलय देश गये थे। द्वारका-दहन के समय वे पल्हव नामक अनार्यदेश में थे। ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व न केवल श्रमण-साधु धर्म प्रसार-परिरक्षण यात्रायें करते थे अपितु जैन व्यापारी भी एशिया के अनेक द्वीपों में व्यापार हेतु जाते थे। इस माध्यम से सुमेर, मिश्र, बेबीलोन (इराक) सूबा, अफ्रीका, यूरोप एवं एशिया के क्षेत्रों में जैन संस्कृति का प्रचार हुआ। ये सुमेर सभ्यता के संस्थापक बने। क्वाजन कोरल के नेतृत्व में पणिसंघ वर्तमान अमरीकी क्षेत्र में ई.पू. 2000 में गया था और वहीं बस गया। यूनान और अन्य क्षेत्रों में जैन साधुओं का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से माना जाता है। भगवान पार्श्वनाथ के समय से लंका में जैन मंदिरों एवं मठों की सूचना भी मिलने लगी है। महावीर युग में इरान का राजकुमार आर्द्रक भारत आया था और जैन साधु बना था। विन्सेंट स्मिथ ने बताया है सम्राट सम्प्रति ने अरब, ईरान तथा अन्य देशों में अनेक जैन साधु एवं राजपुरुष जैन धर्म के प्रसार हेतु भेजे थे। इतिहासकार डा.जी.ई. मोर के अनुसार ईसा से पूर्व ईराक, शाम और फिलीस्तीन में जैन मुनि और बौद्ध-भिक्षु सैकड़ों की संख्या में फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिस्त्र, यूनान और इथोपिया के पहाड़ों और जंगलों में अगणित भारतीय साधु रहते थे। कालकाचार्य द्वितीय ने भी अपने शिष्यों को धर्म प्रचार हेतु ऐशियाई देशों (सुवर्ण भूमि, सुमात्रा) में भेजा था। उन्होंने स्वयं भी ईरान, जावा, सुमात्रा आदि की पदयात्रा की थी। वान क्रैमर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है।

पुराविदों के अनुसार इस्वी सन् की सहस्राब्दियों पूर्व श्रमण जैन संस्कृति विदेशों में व्याप्त थी। सिकंदर जैन मुनि कल्याण को अपने साथ तक्षशिला से यूनान ले गया था। जहाँ उन्होंने आसपास के प्रदेशों में श्रमण संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। इतिहासकार डा. कीथ के अनुसार बेरिंग जलडमरूमध्य से लेकर ग्रीनलैंड तक समस्त उत्तरी ध्रुवसागर के तटवर्ती क्षेत्रों में श्रमण संस्कृति के अवशेष प्राप्त होते हैं। इस संस्कृति ने मंगोलिया, चीन, तिब्बत और जापान को भी प्रभावित किया। इसका प्रभाव बेरिंग जलडमरूमध्य को पार कर उत्तरी अमेरिका भी पहुँचा। आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में भी श्रमण संस्कृति का प्रचार हुआ। मेजर जनरल फारलांग के अनुसार ओक्सियामा, बैक्ट्रिया और कास्पियाना में महावीर के 2000 वर्ष पूर्व श्रमण संस्कृति का प्रचार हुआ था। तुर्किस्तान में 17वीं शताब्दी में एक विशाल जैन मंदिर था और आचार्य

उदयप्रभ के सहस्रों की संख्या में जैन अनुयायी थे। अफगानिस्तान में 175 फीट ऊँची तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति उपलब्ध हुई है।

1807 में कर्नल मकेंजी जैसे अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने जैन धर्म और संस्कृति की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने जैन विद्या के विविध अंगों का अध्ययन कर उसे विदेशी भाषाओं में प्रस्तुत किया। श्री वीरचन्द्र राघव जी गांधी, बेरिस्टर चम्पतराय डॉ. कामताप्रसाद जैन आदि ने भी जैन धर्म की प्रभावना हेतु विदेशों में अच्छा कार्य किया। पिछली शताब्दी में मुनि सुशील कुमार जी और गुरुदेव चित्रभानु ने अमेरिका में जैन धर्म का प्रचार किया। वर्तमान में समणियों द्वारा इस दिशा में महत्तर कार्य किया जा रहा है। आज ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रिया, कनाडा, जापान, थाइलैंड, आदि देशों में जैन धर्म का अध्ययन और शोध कार्य हो रहा है। भारत में भी कुछ संस्थायें विदेशों में जैन धर्म के प्रचार प्रसार का कार्य कर रही हैं।

### संदर्भ ग्रंथ—

1. जैन परम्परा का इतिहास, आचार्य महाप्रज्ञ।
2. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, साध्वी संघमित्रा।
3. जैन धर्म, पं. कैलाश चंद्र शास्त्री।
4. जैनधर्म परंपरा एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रंथ।
5. युग-युग में जैन धर्म, डॉ. ज्योति प्रसाद जैन।
6. श्रमण संस्कृति की व्यापकता, प्रो. डा. राजाराम जैन।
7. सर्वोदयी जैन तंत्र, डा. नन्दलाल जैन